



गीता में वर्णाश्रमधर्म और उसकी प्रासंगिकता

नीरज शर्मा,

कन्या महाविद्यालय, जालन्धर (पंजाब)

Abstract : गीता का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष अथवा सन्देश योग सन्देश है, जिसमें सांख्यादि विभिन्न योगों के बारे में बताया गया है। धर्म युद्ध कुरुक्षेत्र की भूमि पर कर्म युद्ध से पलायन करने का मन बना चुके अर्जुन के माध्यम से भगवान कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के लिये उपदेश देते हैं कि इस प्रकार कायरता दिखा कर कर्मक्षेत्र से भाग खड़ा होना तुम्हें शोभा नहीं देता, यह अवसर तो किसी भाग्यवान् क्षत्रिय को ही प्राप्त होता है जो स्वर्ग का ही द्वार है और यदि तुम यह धर्मयुद्ध नहीं लड़ोगे तो अपने धर्म और प्रतिष्ठा को खोकर पाप के भागी बनोगे। प्रायः मनुष्य घर गृहस्थी और समाज से जुड़ी हुई जिम्मेदारियों से भाग कर साधु संन्यासी बन जाने का निर्णय लेता है; उन जैसे व्यक्तियों के लिये भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के मन में उठी शंका का समाधान करते हुए बतलाया है कि सभी योगों में कर्म योग ही सर्वश्रेष्ठ है। अर्जुन को सम्बोधित करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को अपने विवेक का उपयोग कर कर्म और अकर्म में अन्तर जान लेना चाहिये। विवेकहीन होकर केवल बाहरी क्रियाओं का त्याग कर देना अकर्म नहीं कहलाता।

प्रस्तावना :-

समय, काल और परिस्थिति के अनुसार कर्म-अकर्म, कर्त्तव्य - अकर्त्तव्य की परिभाषाएँ बदल जाती हैं। इसलिये व्यक्ति को विवेकपूर्ण ढंग से चिंतन कर के किसी निर्णय तक पहुँचना चाहिये क्योंकि कर्म करना न चाहते हुए भी कर्म करना धर्म हो जाता है। एक सच्चे क्षत्रिय के लिए धर्म, समाज और लोकहित के लिये कर्म क्षेत्र में कूद पड़ना परम पवित्र कर्म है; इसीलिये भगवान् कृष्ण कहते हैं कि तुम स्वयं अपनी शक्ति को पहचानो, अपने कर्त्तव्य को जानो और अपना उद्धार स्वयं करो। यहाँ पर यह बतला देना भी आवश्यक है कि गीता में कर्म के साथ-साथ संन्यास योग को भी मुक्ति का मार्ग कहा गया है, लेकिन यह संन्यास संसार के कष्टों और उत्तरदायित्वों से भाग कर धारण नहीं किया जा सकता; बल्कि यह तो समत्व भाव को हृदय से धारण करने की एक स्थिति है। जिसके लिये कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं है। गीता के छठे अध्याय के प्रथम श्लोक में भगवान् श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं कि जो कर्म फल का त्याग करके कर्म को करता है, वही वास्तव में संन्यासी है और वही योगी है। केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं कहलाता। वर्णाश्रम व्यवस्था चातुर्वर्ण्य व्यवस्था सम्पूर्ण मानव जाति की वास्तविक अवस्था है, जिसका अचेष्टण एवं धारणा वैदिक परम्परा के ऋषि-मुनियों ने की थी। आज हिन्दु समाज में जिस जाति व्यवस्था, ऊँच नीच का भेदभाव या छूआछूत की

बात होती है वह वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था एवं चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में कहीं नहीं है। वर्तमान व्यवस्थाएँ स्वार्थी एवं पाखंडी लोगों एवं तथाकथित धर्म एवं सत्ता के गठजोड़ की ही देन हैं। वास्तविक वर्णाश्रम धर्म और कर्म को पहचान कर मनुष्य फिर से अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हो।

प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के चारों ओर एक प्रकाशवलय होता है, जो व्यक्ति के गुण, स्वभाव के अनुसार प्रभावित होकर उसका तेजोवलय (AURA) बनकर दिखाई देता है। दिव्य योगी एवं सन्त इस तेजोवलय को देखने में सक्षम होते हैं, हाँ आज विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है एवं विशेष यन्त्रों से देखने में सक्षम है। इस तेजोवलय को व्यक्ति के गुण स्वभाव एवं प्रकृति के आधार पर वैदिक धारणा में विभिन्न वर्णों में बाँटा गया, जिसे वर्णाश्रम कहा गया। उदाहरणार्थ - अत्यन्त शुद्ध आचार विचार वाले व्यक्ति के तेजोवलय का वर्ण शुक्ल रहता है। शास्त्रों में ऐसे व्यक्ति को ब्राह्मण कहा गया। इसमें जाति, मजहब का कोई आधार नहीं है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का उद्गम इसी प्रकार के वर्णाश्रम धर्म से हुआ। इस प्रकार चातुर्वर्ण्य एवं वर्णाश्रम व्यवस्था, गुण, कर्म, स्वभाव एवं संस्कारों पर निर्भर है, न कि जन्मजात व्यवस्था पर। यह एक दिव्य प्राकृतिक अवस्था है। वैदिक परम्परा ने इस दिव्य अवस्था का अध्ययन कर समाज के कल्याण एवं सुचारू संचालन के लिये कुछ नियम बनाये जिन्हें वर्णाश्रम धर्म एवं चातुर्वर्ण्य व्यवस्था कहा गया। श्रीगीता में चातुर्वर्ण्य के बारे में स्पष्ट कहा गया है।

चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमक्षयम् ॥ [४.१३]

जन्मतः कोई ब्राह्मण नहीं है। जन्मतः सारे शूद्र हैं। उत्तम संस्कारों के कारण कोई भी ब्राह्मण बन सकता है। शास्त्रानुसार -

जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते ।”

फिर ब्राह्मण कौन है? जो ब्रह्म को जानता है वही ब्राह्मण है

“ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ।

चातुर्वर्ण्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चार वर्णों का निर्धारण मनुष्य के चतुर्विध पुरुषार्थ पर निर्धारित कर दिया गया।

ब्राह्मण- वैदिक परम्परा का मुख्य ध्येय आदर्श ब्राह्मण बनना है। इसके अनुसार कोई भी सुयोग्य आचार, विचार का पालन कर ब्राह्मण बन सकता है। जिसका आचार, विचार आध्यात्मिक भाव का यानि ब्रह्मा को जानने का है, वही ब्राह्मण बन सकता है। ब्राह्मण बने व्यक्ति का तेजोवलय शुक्ल वर्ण का होता है। अर्थात् शुक्ल दिव्य वलयवर्ण का व्यक्ति ब्राह्मण है, जो आध्यात्म साधना एवं चिन्तन में लिप्त रहता है तथा कामिनी, कंचन एवं कीर्ति से बचकर रहता है। उपनिषद के अनुसार शुक्ल वर्ण दिव्यवलय वाला व्यक्ति किसी भी जाति, धर्म अथवा त्वचा के रंग का हो, ब्राह्मण ही

कहलायेगा। जैसा कि ऊपर भी लिखा गया है कि जन्म से सब शूद्र हैं, अतः कोई भी सुयोग्य साधना कर ब्राह्मण बन सकता है ब्राह्मण समाज के आदर्श का प्रतीक है न कि जाति व्यवस्था का।

क्षत्रिय- जो अपने क्षेत्र की रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। प्रश्न उठता है कि कौन सा क्षेत्र ? श्री गीता में कहा गया है-

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्र मित्ययिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इतितद्विदः ॥[१३.१]

आशय यह है कि अपना शरीर ही वह क्षेत्र है तथा जो शरीर की रक्षा करे वह क्षत्रिय है। शरीर की रक्षा शरीर के लिये नहीं वरन् आत्मसाधन के लिये जरूरी है। आत्मसाधना का फल आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान होते हैं। परन्तु सभी एकदम से ब्रह्मज्ञानी नहीं बन सकते। इस उच्च अवस्था तक पहुँचने के लिये आत्मसाधना करनी पड़ती है। आत्मसाधना के लिये शरीर की रक्षा करना आवश्यक है। अतः जो साधक नियमबद्ध रहकर शरीर की रक्षा करता है वह क्षत्रिय कहलाता है। इस प्रकार अपना स्वास्थ्य एवं कृतिक्षेत्र की रक्षा करने वाले जन जहाँ भी होंगे वे उस समाज के क्षत्रिय माने जायेंगे।

वैश्य- जो पोषण करना स्वीकार करते हैं उन्हें शास्त्र वैश्य कहते हैं। कुछ साधक सारे जीवन तक एक ही कृति को धारण कर कर्मठता से मग्न रहते हैं, और अपनी कृति का पोषण करते हैं, शास्त्रकार उन्हें वैश्य कहते हैं। अपने कर्म विशेष में मशगूल रहना, कर्मठता के साथ आगे बढ़ना, अपनी कृति के पोषण में लगे रहने वाला वैश्य है। धर्म की परिभाषा है "यतोम्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः" इस परिभाषा को धारण करने वाला साधक ही वैश्य है।

शूद्र - जिस साधक को थोड़ी भी साधना करने के बाद उसका आविर्भाव या अहंकार अधिक हो जाता है, यह कुछ करने के पश्चात् चित्त का उद्रेक अधिक हो जाता है, उनको शास्त्रों में शू-उद्रः यानि शूद्रः कहा जाता है। शूद्र जाति नहीं वरण वृत्तिविस्फोट है। ऐसे शूद्र वृत्ति वाले मनुष्य प्रत्येक समाज में बहुलता में पाये जाते हैं। इसलिये उनको वृत्तिउद्रेक शान्त करने के लिये, विनम्र बनने के लिये सन्त, महात्मा, भगवान, ब्राह्मण या अन्यो की सेवा करने के लिये कहा जाता है ताकि उनका भावनाउद्रेक कम हो सके।

हर एक व्यक्ति के चारों ओर एक तेजोवलय होता है। प्रत्येक वृत्ति का अलग वयविलय होता है जिसका वर्ण वलय शुक्ल होगा वह ब्राह्मण, जिसका ताम्रवर्णी वह क्षत्रिय, पीतवर्ण वाला वैश्य तथा शूद्रों का वर्ण वलय कृष्ण, श्याम होता है। इस वर्णवलय में किसी भी जाति, समाज या धर्म का वर्गान्तर नहीं होता है। वेदों में सभी चार वर्णों को जिनमें शूद्र भी शामिल हैं, आर्य माना गया है और अत्यंत सम्मान दिया गया है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि वेदों की इन मौलिक शिक्षाओं को हमने

विस्मृत कर दिया है, जो कि हमारी संस्कृति की आधारशिला हैं | कुछ तथाकथित पूर्वाग्रह ग्रस्त भारतीय चिंतकों की भ्रामक कपोल कल्पनाओं ने पहले ही समाज में अलगाव के बीज बो कर अत्यंत क्षति पहुंचाई है | अभाग्यवश दलित कहे जाने वाले लोग खुद को समाज की मुख्य धारा से कटा हुआ महसूस करते हैं, फलतः हम समृद्ध और सुरक्षित सामाजिक संगठन में नाकाम रहे हैं | इस का केवल मात्र समाधान यही है कि हमें अपने मूल वेदसार श्रीमद्भगवद्गीता की ओर देखना चाहिए और हमारी पारस्परिक (एक-दूसरे के प्रति) समझ को पुनः स्थापित करना चाहिए।

‘चार वर्ण- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के नाम से विख्यात हैं और ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास यह चार आश्रम कह जाते हैं ॥ वर्णों की रचना किसी विशेष लक्ष्य को चुन कर उसी के माध्यम से आत्मिक प्रगति में एकनिष्ठ भाव होकर लग जाने के उद्देश्य से की गई है। वैसे जीवन का लक्ष्य तो आत्म कल्याण एवं पूर्णता की प्राप्ति ही है, पर उसका अभ्यास करने के लिए कोई लौकिक माध्यम भी तो अपनाना पड़ेगा। विद्या पढ़ने के लिए पुस्तकों की, बल प्राप्ति के लिए व्यायाम उपकरणों की, धन प्राप्त करने के लिए उद्योग की व्यवस्था करनी पड़ती है। बुद्धि, आरोग्य, समृद्धियों अदृश्य एवं सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, पर उनका वैभव तो किसी स्थूल माध्यम से ही प्रकट होता है। इसी प्रकार आत्म- कल्याण का सूक्ष्म उद्देश्य प्राप्त करने के लिए भी कोई भौतिक कार्यक्रम तो चाहिए ही इच्छा और कामना करते रहने से तो कोई लाभ मिल नहीं जाता ॥ आत्म- कल्याण का उद्देश्य पूरा करने के लिए भी बाह्य जीवन में कोई रुचिकर उपयोगी एवं सोद्देश्यपूर्ण कार्यक्रम निर्धारित करना ही पड़ता है। एक दिशा निर्धारित करके उस पर चलते रहने से ही पथिक को अपनी यात्रा का परिणाम प्राप्त करने का अवसर मिलता है ॥ जो कभी इधर, कभी उधर भटकता रहेगा, कोई दिशा निर्धारित न करेगा उसे न तो किसी लक्ष्य की प्राप्ति होगी और न वह किसी कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त कर अपनी प्रतिष्ठा ही बना सकेगा।

संसार में चार ही प्रमुख शक्तियाँ हैं १.ज्ञान, २.बल, ३.धन, ४.श्रम, इन्हीं चारों खम्भों पर प्रगति का मंच खड़ा किया गया है ॥ मनुष्य ने अब तक जो उन्नति की है, उसका सारा श्रेय इन चार विभूतियों को ही है ॥ यदि यह न हों तो जन्मजात रूप से जैसा भी कुछ मानव प्राणी उत्पन्न होता है उसे सबसे पिछड़ा ही माना जा सकता है ॥ एक- एक वर्ण इनमें से एक- एक शक्ति की विशेष आराधना करने, उसमें विशेषता प्राप्त करने का लक्ष्य बनाता है और उस मार्ग पर निरन्तर चलते हुए अपने तथा दूसरों के लिए सुख- शांति का लक्ष्य प्रशस्त करता है। (भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्व पृ.सं. ४.१५)

मूलतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पुरुष या स्त्री के लिए कहीं कोई बैरभाव या भेदभाव का स्थान नहीं है। जाति (caste) की अवधारणा यदि देखा जाए तो काफ़ी नई है | जाति (caste) के पर्याय के रूप में स्वीकार किया जा सके या अपनाया जा सके ऐसा एक भी शब्द वेदों में नहीं है | जाति (caste) के नाम पर साधारणतया स्वीकृत दो शब्द हैं — जाति और वर्ण | किन्तु सच यह है कि ये भिन्न अर्थ रखते हैं। जाति (caste) की अवधारणा यूरोपियन दिमाग की उपज है जिसका तनिक

अंश भी वैदिक संस्कृति में नहीं मिलता। जाति का अर्थ है उद्भव के आधार पर किया गया वर्गीकरण | न्याय सूत्र यही कहता है "समानप्रसवात्मिका जातिः" अथवा जिनके जन्म का मूल स्रोत सामान हो (उत्पत्ति का प्रकार एक जैसा हो) वह एक जाति बनाते हैं | ऋषियों द्वारा प्राथमिक तौर पर जन्म-जातियों को चार स्थूल विभागों में बांटा गया है – उद्भिज(धरती में से उगने वाले जैसे पेड़, पौधे, लता आदि), अंडज(अंडे से निकलने वाले जैसे पक्षी, सरीसृप आदि), पिंडज (स्तनधारी- मनुष्य और पशु आदि), उष्मज (तापमान तथा परिवेशीय स्थितियों की अनुकूलता के योग से उत्पन्न होने वाले – जैसे सूक्ष्म जिवाणु वायरस, बैक्टेरिया आदि)।

हर जाति विशेष के प्राणियों में शारीरिक अंगों की समानता पाई जाती है | एक जन्म-जाति दूसरी जाति में कभी भी परिवर्तित नहीं हो सकती है और न ही भिन्न जातियां आपस में संतान उत्पन्न कर सकती हैं | अतः जाति ईश्वर निर्मित है |

जैसे विविध प्राणी हाथी, सिंह, खरगोश इत्यादि भिन्न-भिन्न जातियां हैं | इसी प्रकार संपूर्ण मानव समाज एक जाति है | ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी भी तरह भिन्न जातियां नहीं हो सकती हैं क्योंकि न तो उनमें परस्पर शारीरिक बनावट (इन्द्रियादी) का भेद है और न ही उनके जन्म स्रोत में भिन्नता पाई जाती है |

बहुत समय बाद जाति शब्द का प्रयोग किसी भी प्रकार के वर्गीकरण के लिए प्रयुक्त होने लगा | और इसीलिए हम सामान्यतया विभिन्न समुदायों को ही अलग जाति कहने लगे | जबकि यह मात्र व्यवहार में सहूलियत के लिए हो सकता है | सनातन सत्य यह है कि सभी मनुष्य एक ही जाति हैं और सबमें एक आत्मा है जो अजन्मा है और समय से बद्ध नहीं (नित्य है) इसलिए आत्मा का कोई वर्ण नहीं होता | यह तो आत्मा द्वारा मनुष्य शरीर धारण किये जाने पर ही वर्ण चुनने का अवसर मिलता है।

यजुर्वेद में यह ३१ वें अध्याय का ११ वां मंत्र है | इसका वास्तविक अर्थ जानने के लिए इससे पहले मंत्र ३१.१० पर गौर करना जरूरी है | वहां सवाल पूछा गया है – मुख कौन है?, हाथ कौन है?, जंघा कौन है? और पाँव कौन है? तुरंत बाद का मंत्र जवाब देता है – ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय हाथ हैं, वैश्य जंघा हैं तथा शूद्र पैर हैं। यह ध्यान रखें की मंत्र यह नहीं कहता की ब्राह्मण मुख से "जन्म लेता" है ... मंत्र यह कह रहा है की ब्राह्मण ही मुख है | क्योंकि अगर मंत्र में "जन्म लेता" यह भाव अभिप्रेत होता तो "मुख कौन है?" इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं थी। इसका सत्य अर्थ है – समाज में ब्राह्मण या बुद्धिजीवी लोग समाज का मस्तिष्क, सिर या मुख बनाते हैं जो सोचने का और बोलने का काम करे | बाहुओं के तुल्य रक्षा करने वाले क्षत्रिय हैं, वैश्य या उत्पादक और व्यापारीगण जंघा के सामान हैं जो समाज में सहयोग और पोषण प्रदान करते हैं (ध्यान दें ऊरू अस्थि या फिमर हड्डी शरीर में रक्तकोशिकाओं का निर्माण करती हैं और सबसे सुदृढ़ हड्डी होती है) | अथर्ववेद मंत्र ऊरू या जंघा के स्थान पर 'मध्य' शब्द का प्रयोग हुआ है | जो शरीर के मध्य भाग और

उदर का द्योतक है | जिस तरह पैर शरीर के आधार हैं जिन पर शरीर टिक सके और दौड़ सके उसी तरह शूद्र या श्रमिक बल समाज को आधार देकर गति प्रदान करते हैं।

यह अत्यंत खेदजनक है कि सामाजिक रचना का इतने अप्रतिम अलंकारिक वर्णन का गलत अर्थ लगाकर वैदिक परिपाटी से सर्वथा विरुद्ध विकृत स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है, वरना हमारे यहाँ किसी प्रकार के (वर्ण व्यवस्था में) भेदभाव के तत्वों की गुंजाइश नहीं है। वैदिक संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति जन्मतः शूद्र ही माना जाता है। उसके द्वारा प्राप्त शिक्षा के आधार पर ही ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य वर्ण निर्धारित किया जाता है | शिक्षा पूर्ण करके योग्य बनने को दूसरा जन्म माना जाता है | ये तीनों वर्ण 'द्विज' कहलाते हैं क्योंकि इनका दूसरा जन्म (विद्या जन्म) होता है | किसी भी कारणवश अशिक्षित रहे मनुष्य शूद्र ही रहते हुए अन्य वर्णों के सहयोगात्मक कार्यों को अपनाकर समाज का हिस्सा बने रहते हैं |

यदि ब्राह्मण का पुत्र विद्या प्राप्ति में असफल रह जाए तो शूद्र बन जाता है | इसी तरह शूद्र या दस्यु का पुत्र भी विद्या प्राप्ति के उपरांत ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य वर्ण को प्राप्त कर सकता है | यह सम्पूर्ण व्यवस्था विशुद्ध रूप से गुणवत्ता पर आधारित है | जिस प्रकार शिक्षा पूरी करने के बाद आज उपाधियाँ दी जाती हैं उसी प्रकार वैदिक व्यवस्था में यज्ञोपवीत दिया जाता था | प्रत्येक वर्ण के लिए निर्धारित कर्तव्यकर्म का पालन व निर्वहण न करने पर यज्ञोपवीत वापस लेने का भी प्रावधान था। वैदिक इतिहास में वर्ण परिवर्तन के अनेक प्रमाण उपस्थित हैं, जैसे - ऐतरेय ऋषि दास अथवा अपराधी के पुत्र थे | परन्तु उच्च कोटि के ब्राह्मण बने और उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय उपनिषद की रचना की | ऋग्वेद को समझने के लिए ऐतरेय ब्राह्मण अतिशय आवश्यक माना जाता है। ऐलूष ऋषि दासी पुत्र थे। जुआरी और हीन चरित्र भी थे, परन्तु बाद में उन्होंने अध्ययन किया और ऋग्वेद पर अनुसन्धान करके अनेक अविष्कार किये। ऋषियों ने उन्हें आमंत्रित कर के आचार्य पद पर आसीन किया। (ऐतरेय ब्राह्मण २.१९) सत्यकाम जाबाल गणिका (वेश्या) के पुत्र थे परन्तु वे ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए।

राजा दक्ष के पुत्र पृषध शूद्र हो गए थे, प्रायश्चित स्वरूप तपस्या करके उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। (विष्णु पुराण ४.१.१४) राजा नेदिष्ठ के पुत्र नाभाग वैश्य हुए | पुनः इनके कई पुत्रों ने क्षत्रिय वर्ण अपनाया | (विष्णु पुराण ४.१.१३) धृष्ट नाभाग के पुत्र थे परन्तु ब्राह्मण हुए और उनके पुत्र ने क्षत्रिय वर्ण अपनाया | (विष्णु पुराण ४.२.२) हारित क्षत्रियपुत्र से ब्राह्मण हुए | (विष्णु पुराण ४.३.५) क्षत्रियकुल में जन्में शौनक ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया | (विष्णु पुराण ४.८.१) वायु, विष्णु और हरिवंश पुराण कहते हैं कि शौनक ऋषि के पुत्र कर्म भेद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के हुए। विश्वामित्र के पुत्रों ने शूद्र वर्ण अपनाया | विश्वामित्र स्वयं क्षत्रिय थे परन्तु बाद में उन्होंने ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया। विदुर दासी पुत्र थे | तथापि वे ब्राह्मण हुए और उन्होंने हस्तिनापुर साम्राज्य का मंत्री पद सुशोभित किया। इस प्रकार के असंख्य उदाहरण हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति

चारों वर्णों से युक्त है। अतः वैदिक ज्ञान के अनुसार सभी मनुष्यों को चारों वर्णों के गुणों को धारण करने का पूर्ण प्रयत्न करते हुए हम समाज में व्याप्त जन्म आधारित भेदभाव को टुकरा कर सभी को सम रूप में स्वीकारें और अखंड समाज की रचना में सार्थक योगदान दें।

आश्रम- वर्णव्यवस्था के साथ-साथ हमारी अमूल्य विरासत जो जीवन की उन्नति, प्रगति और सन्तुलित विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; और वह है आश्रम व्यवस्था। यजुर्वेद (३६, २४) में कहा गया है-

“तचक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुन्नरत् ॥ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्रणुयाम शरदः शतं प्रव्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्चशरदः शतात्॥”

अर्थात् वह परमात्मा देवों का हित करने वाला हो, (जो) अनादि और विशुद्ध ज्ञान का उपदेश करता है ॥ हम सौ वर्ष के जीवन काल में उसका दर्शन कर सकें ॥ सौ वर्ष के जीवन में इसी ध्येय के लिए जीवित रहें ॥ सौ वर्ष तक के जीवन में हम इस परमात्मा का श्रवण और मनन करते रहें ॥ सौ वर्ष तक के जीवन काल में हम इस परमात्मा का गुणगान गाते रहें ॥ सौ वर्ष तक के जीवन में हम कभी भी दीनता वृत्ति प्रकट न करें ॥ सौ वर्षों से यदि अधिक जीवन भी मिले, तब भी हम अपने जीवनकाल में उक्त कार्य करते रहें, लेकिन जो मनुष्य इन आश्रमों की व्यवस्था को निराशा, कायरता और पलायनता के लिए सन्दर्भित करते हैं, वे इनकी मूल भावना को भूल बैठे हैं। बिना पहला पग उठाए अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने की कल्पना तो कोरी कल्पना ही होगी और यह भी कि जीवनचक्र में मार्ग तय नहीं किया तो मंजिल का मजा (लक्ष्य का आनन्द) क्या मिलेगा। इसी प्रकार प्रथम तीन आश्रम से भाग यदि सन्यास ले लिया तो यह सन्यास किसी भी अर्थ में हो नहीं सकता। गीता में भगवान् कृष्ण द्वारा इसके बारे में आगे बताया गया है-

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ [गीता, ५. ३]

अर्थात् जो मनुष्य न तो किसी से घृणा करता है और न ही किसी की इच्छा करता है, वह सदा संन्यासी ही समझने योग्य है और इसके बिना सन्यास की कोई विशेषता नहीं है। यथा-

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ [गीता, ५. ६]

आयुष्य समय विभाजन की दृष्टि से ही आश्रम धर्म की परम्परा का निर्माण किया गया है। इन चारों की अपनी- अपनी अलग स्थिति है, लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि श्रेष्ठ कर्म उपरी संन्यास वेश के पराधीन नहीं होते। गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण कहते हैं कि संन्यास माध्यम से किया जाने

वाला कर्म (सांख्य-योग) और निष्काम माध्यम से किया जाने वाला कर्म (कर्म-योग), ये दोनों ही परमश्रेय को दिलाने वाले हैं।



नीरज शर्मा,
कन्या महाविद्यालय, जालन्धर (पंजाब)